जैन न्याय का प्राथमिक परिचय

—डॉ. वीरसागर जैन

न्याय का अर्थ– 'न्याय' शब्द की संस्कृत व्युत्पत्ति है **'नीयते ज्ञायते वस्तु तत्त्व येन स न्यायः'** अर्थात् जिसके द्वारा वस्तु स्वरूप को भलीभांति जाना जाए वह न्याय है।

न्याय के पर्यायवाची– अन्वीक्षा, युक्ति, परीक्षा, समीक्षा आदि अनेक शब्द न्याय के पर्यायवाची हैं।

न्याय का महत्त्व– वस्तु स्वरूप को अन्धश्रद्धा या श्रद्धामात्र से समीचीनतया नहीं जाना जा सकता है, अपितु न्याय, युक्ति या परीक्षा द्वारा ही जाना जा सकता है। इस अर्थ में न्याय भी एक विज्ञान है अथवा वैज्ञानिक दृष्टि (पद्धति) है जो सर्वथा आग्रहरहित होकर सीधे वस्तु के स्वरूप का समीचीन ज्ञान कराती है।

जैन दर्शन में न्याय– जैन दर्शन के अनुसार यह न्याय प्रमाण-नयात्मक होता है, क्योंकि प्रमाण-नय से ही वस्तु स्वरूप की सत्य परीक्षा की जा सकती है और जाना जा सकता है, अन्य किसी विधि से नहीं।

यही कारण है कि जैन न्याय के प्रतिपादक ग्रन्थों में प्रमाण और नय का ही विस्तृत एवं विशद विवेचन उपलब्ध होता है। प्रमाण-नय स्वरूप में निष्णात व्यक्ति निःसन्देह एक कुशल परीक्षक या नैयायिक बन जाता है।

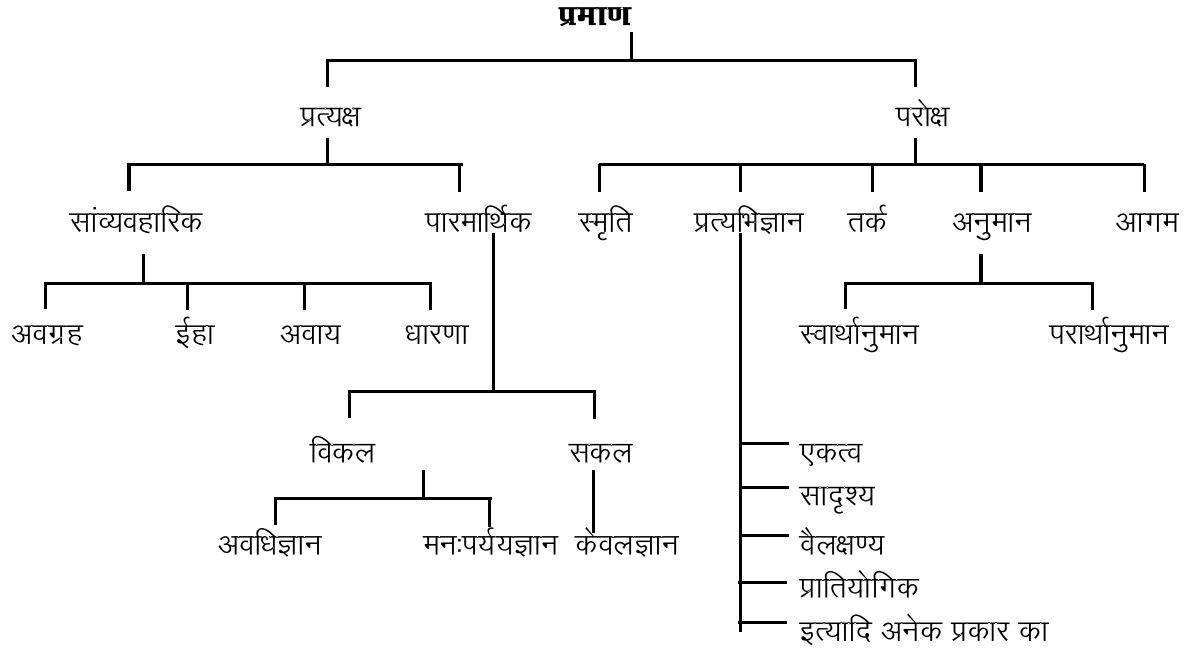
जैन न्याय के प्राथमिक ग्रन्थ– जैन न्याय के प्रतिपादक ग्रन्थों की संख्या शताधिक है, पर प्राथमिक जिज्ञासुओं को निम्नलिखित चार ग्रन्थों का विशेष रूप से अध्ययन करना चाहिए–

1. परीक्षामुखसूत्रम् (आ. माणिक्यनन्दि) 2. न्यायदीपिका (अभिनव धर्मभूषणयति) 3. प्रमाणमीमांसा (आ. हेमचन्द्रसूरि) 4. नयचक्र (माइल्लधवल)

इस प्रकार स्पष्ट है कि जैन न्याय के दो अवयव हैं– 1. प्रमाण और 2. नय।

प्रमाण का लक्षण– जैन दर्शन के अनुसार सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण है, क्योंकि उसी के द्वारा वस्तु का निश्चय किया जा सकता है अथवा उसी के द्वारा हित की प्राप्ति और अहित का परिहार सम्भव है। ईश्वर, वेद, इन्द्रियाँसन्निकर्ष आदि को जैनदर्शन में प्रमाण नहीं माना गया है।

प्रमाण के भेद-प्रभेद– प्रमाण के अनेक भेदप्रभेद हैं, जिन्हें संक्षेप में निम्नलिखित चार्ट द्वारा देखा जा सकता है–



प्रत्यक्ष प्रमाण और उसके भेद– विशद ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। विशदता का अर्थ है– निर्मलता, स्पष्टता। जो ज्ञान अन्य ज्ञान की सहायता के बिना ही वस्तु को विशेष स्पष्टता से जानता है वह प्रत्यक्ष प्रमाण है।

इन्द्रियों की सहायता से होने वाला ज्ञान यद्यपि परमार्थ से अविशद होने के कारण परोक्ष ही है, परन्तु लोक व्यवहार में प्रत्यक्ष कहा जाता है अतः यहाँ उसे सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा गया है।

पारमार्थिक प्रत्यक्ष इन्द्रिय-निरपेक्ष है, अतीन्द्रिय है। वह दो प्रकार का है— एक कतिपय विषयक और दूसरा सर्वपदार्थविषयक। पहला विकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष है जिसके दो भेद हैं– अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान। द्रव्य, क्षेत्र काल, भाव की मर्यादापूर्वक रूपी पदार्थ को जाननेवाला अवधिज्ञान है और दूसरे के मन में स्थित रूपी पदार्थ को जाननेवाला मनःपर्ययज्ञान है।

सर्वद्रव्यपर्याय विषयक पारमार्थिक प्रत्यक्ष केवलज्ञान कहलाता है जो अरिहन्त के ही माना गया है। जैन न्याय ग्रन्थों में इस प्रसंग में सर्वज्ञ की सिद्धि विस्तारपूर्वक अनेक तर्कों द्वारा की गई है। आप्तमीमांसा, आप्तपरीक्षा आदि अनेक ग्रन्थ तो स्वतन्त्र रूप से इस विषय पर ही रचित हैं। यहाँ विस्तारभय से उसकी चर्चा नहीं करते हैं। संक्षेप में इतना ज्ञातव्य है कि अरिहंत के वचन युक्ति-शास्त्र से अविरुद्ध है, प्रमाणबाधित नहीं है, प्रमाणसिद्ध है, अतः ज्ञात होता है कि वे निर्दोष हैं– राग-द्वेष एवं अज्ञान से रहित हैं और इसी से सिद्ध होता है कि वे सर्वज्ञ हैं।

परोक्ष प्रमाण और उसके भेद-प्रभेद– जो अविशद या अनिर्मल सम्यग्ज्ञान है वह परोक्ष प्रमाण है। इसके 5 भेद हैं– स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम। इन पाँचों का यही क्रम निश्चित समझना चाहिए, क्योंकि उत्तरवर्ती ज्ञान, पूर्ववर्ती ज्ञानों की अपेक्षा रखते हैं। यथा–स्मृति को पूर्वप्रत्यक्ष की अपेक्षा होती है, प्रत्यभिज्ञान को प्रत्यक्ष एवं स्मृति की अपेक्षा होती है, तर्क को प्रत्यक्ष, स्मृति एवं प्रत्यभिज्ञान की अपेक्षा होती है और आगम को शब्द-संकेतादि की अपेक्षा होती है।

जो ज्ञान पूर्वानुभूत वस्तु को 'वह' इस रूप से विषय बनाता है उसे **स्मृति** कहते हैं। प्रत्यक्ष दर्शन और स्मृति के संकलन रूप ज्ञान को **प्रत्यभिज्ञान** कहते हैं। प्रत्यभिज्ञान अनेक प्रकार का है– एकत्वप्रत्यभिज्ञान, सादृश्यप्रत्यभिज्ञान, वैसादृश्यप्रत्यभिज्ञान, प्रातियोगिक प्रत्यभिज्ञान आदि। प्रत्यक्ष दृष्ट और स्मृत वस्तुओं मेएकत्व, सादृश्य, वैसादृश्य और प्रतियोगित्व को विषय करने वाले प्रत्यभिज्ञानों को क्रमशः एकत्व, सादृश्य, वैसादृश्य और प्रातियोगिक प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। जैसे यह वही देवदत्त है अथवा यह उसी के समान है, आदि।

तर्क– व्याप्ति के ज्ञान को तर्क कहते हैं। साध्य और साधन में गम्य-गमक भाव को बतलाने वाले सुनिश्चित सम्बन्ध को व्याप्ति कहते हैं। जैसे– धुंए की अग्नि के साथ व्याप्ति है, क्योंकि धुंआ अग्नि के होने पर ही होता है और अग्नि के नहीं होने पर नहीं ही होता है।

व्याप्ति का दूसरा नाम अविनाभाव भी है। अविनाभाव के दो भेद हैं– सहभावनियम और क्रमभावनियम। सहचारी और व्याप्य–व्यापक रूप पदार्थों में सहभावनियम पाया जाता है। जैसे–रूप और रस में अथवा नीम और वृक्ष में सहभावनियम है। पूर्वोत्तरचारी और कार्य-कारण रूप पदार्थों में क्रमभावनियम होता है। जैसे–रविवार और सोमवार में क्रमभावनियम नामक अविनाभाव है।

अनुमान– साधन (या हेतु) से साध्य का ज्ञान होना अनुमान है। साधन या हेतु के लक्षण पर भारतीय न्यायशास्त्र में खूब ऊहापोह हुआ है। कोई त्रैरूप्य को और कोई पांचरूप्य को हेतु का लक्षण स्वीकार करते हैं, पर जैन नैयायिकों ने एक अन्यथानुपपत्ति या अविनाभाव को ही हेतु का समीचीन लक्षण सिद्ध किया है।

अनुमान दो प्रकार का है– 1. स्वार्थानुमान और 2. परार्थानुमान जो अनुमान परोपदेश से होता है वह परार्थानुमान है और जो परोपदेश के बिना होता है वह स्वार्थानुमान है।

जैन नैयायिकों ने अनुमान के दो ही अंग स्वीकार किये हैं– 1. प्रतिज्ञा, और 2. हेतु। इसके अतिरिक्त उदाहरण, उपनय आदि को वे अनुमान का अंग नहीं स्वीकार करते हैं। हाँ, कदाचित् वीतराग-कथा में शिष्यानुग्रह के लिए उदाहरणादि का कोई प्रयोग करे तो कोई आपत्ति नहीं है।

आगम– आप्त के वचनादि से होनेवाला अर्थज्ञान आगम है। आप्त किसे कहते हैं– इस विषय में जैन नैयायिकों ने अत्यधिक विस्तारपूर्वक विमर्श किया है, जिसका सारांश निम्नलिखित श्लोक में प्रसिद्ध है–

''मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये॥''

अर्थात् जो वीतराग, सर्वज्ञ और सर्वसत्त्व हितोपदेशी है वही आप्त है। अथवा सामान्य अपेक्षा से यह भी कहा गया है कि जिस विषय में जो अवंचक होता है, उस विषय में वही आप्त है। प्रामाणिक वक्ता को भी आप्त कहते

हैं। सुप्त, उन्मत्त आदि पुरुष के वचनों से होने वाला अर्थज्ञान अप्रामाणिक होने से आगम नहीं कहलाता, अतः आगम के लक्षण में आप्त का प्रयोग अत्यन्त आवश्यक है।

इस प्रकार आगम प्रमाण भी यद्यपि ज्ञानरूप ही है, परन्तु कारण में कार्य का उपचार करके आगम को शब्दरूप भी कह दिया जाता है। यथा–आप्त के वचन आगम है।

जैन नैयायिकों ने प्रमाण के लक्षण और भेद के अतिरिक्त उसके विषय और फल पर भी बहुत गहराई से विचार किया है। वह संक्षेप में निम्नानुसार है–

प्रमाण का विषय– प्रमाण का विषय सामान्यविशेषात्मक सम्पूर्ण वस्तु है, क्योंकि वही अर्थक्रिया में समर्थ है। केवल सामान्यरूप या केवल विशेषरूप वस्तु की सत्ता ही मूलतः असिद्ध है। प्रत्येक पदार्थ सामान्यविशेषात्मक है– इसे जैनाचार्यों ने उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य द्वारा भी बहुत अच्छी तरह समझाया है। 'तत्त्वार्थसूत्र' में आचार्य उमास्वामी के इस विषय के दो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सूत्र प्राप्त होते हैं–

1. सत् द्रव्यलक्षणम्।

2. उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्।

जैनाचार्यों के अनुसार पदार्थ परिणमनशील नित्य है। उसमें प्रतिसमय नवीन अवस्था का आगमन होता है– यह उत्पाद है, पुरानी अवस्था नष्ट होती है– यह व्यय है और वस्तु का स्वभाव वही स्थिर रहता है– यह ध्रौव्य है। इस उत्पादव्ययध्रौव्य सिद्धान्त को स्वर्ण, घट, जीव आदि अनेक दृष्टान्तों से भलीभाँति समझा जा सकता है। जैसे– अंगूठी पर्याय का उत्पाद, जंजीर पर्याय का व्यय और फिर भी स्वर्णरूप से उसी की स्थिति देखी जाती है।

प्रमाण का फल– प्रमाण का फल दो प्रकार से समझना चाहिए– 1. साक्षात् फल 2. परम्परा फल। अज्ञाननिवृत्ति प्रमाण का साक्षात् फल है और त्याग, ग्रहण या उपेक्षा प्रमाण का परम्पराफल है। इसके अतिरिक्त कोई भी फलप्रमाण का जैन न्यायशास्त्र में नहीं माना गया है। इस विषय में निम्नलिखित दो शास्त्रकथन विशेष रूप से ध्यातव्य है–

'अज्ञाननिवृत्तिर्हानोपादानोपेक्षाश्च फलम्।' –(परीक्षामुख 5/1)

''ज्ञानमेव फलं ज्ञाने ननु श्लाध्यमनश्वरम्।
अहो मोहस्य माहात्म्यं यदन्यदपि मृग्यते॥''–(आत्मानुशासन 175)

प्रमाणाभास– इस प्रकार प्रमाण का विवेचन पूर्ण होता है, परन्तु जैन नैयायिकों के अनुसार प्रमाण के साथ-साथ प्रमाणाभास का भी ज्ञान होना आवश्यक है, क्योंकि प्रमाण के द्वारा पदार्थ की सम्यक् सिद्धि होती है और प्रमाणाभास के द्वारा पदार्थ की विपरीत सिद्धि होती है, जैसा कि आचार्य माणिक्यनन्दि ने परीक्षामुखसूत्र में सर्वप्रथम ही जोर देकर कहा है–

''प्रमाणादर्थसंसिद्धिस्तदाभासाद्विपर्ययः ।
इति वक्ष्ये तयोर्लक्ष्म सिद्धमल्पं लघीयसः॥''

जो प्रमाण नहीं है, पर प्रमाण जैसा प्रतीत होता है अथवा प्रमाण माना जाता है उसे प्रमाणाभास कहते हैंसन्निकर्ष, इन्द्रियाँ, इन्द्रियवृत्ति, कारकसाकल्य आदि सभी प्रमाणाभास हैं।

प्रमाण की भांति प्रमाणाभास के भी दो भेद समझने चाहिए– प्रत्यक्षाभास और परोक्षाभास। तथा उसके अनेक उपभेद भी प्रमाणवत् ही समझ लेने चाहिए। तथा उन सबके लक्षण भी प्रमाणाभास के लक्षण की भांति सुगमतया जाने जा सकते हैं। यथा– प्रमाणलक्षणरहितः प्रमाणवदवभासमानः प्रमाणाभासः, अनुमानलक्षणरहितः अनुमानवदवभासमानः अनुमानाभासः, हेतुलक्षणरहितः हेतुवदवभासमानः हेत्वाभासः इत्यादि।

प्रमाण के दो ही प्रकार हैं– प्रत्यक्ष और परोक्ष, तथापि उसे न मानकर प्रमाण की अन्य एक, दो, तीन, चार, पाँच, छह आदि संख्या मानना प्रमाणसंख्याभास है।

प्रमाण का विषय सामान्यविशेषात्मक वस्तु है, किन्तु उसे न मानकर मात्र सामान्यरूप, मात्र विशेषरूप अथवा सामान्य और विशेष दोनों को स्वतंत्र-स्वतंत्र रूप से प्रमाण का विषय मानना प्रमाण-विषयाभास है।

प्रमाण का साक्षात्फल अज्ञाननिवृत्ति है और यदि परम्परा से देखा जाए तो हान, उपादान और उपेक्षा को भी प्रमाण का फल कहा जा सकता है, किन्तु उसे न मानकर अन्य किसी को प्रमाण का फल मानना प्रमाणफलाभास है।

नय-विवेचन– प्रमाण और प्रमाणाभास के बाद नय का भी संक्षेप में विवेचन करते हैं। विशेष जिज्ञासा हेतु माइल्लधवल द्वारा रचित 'द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र' अवश्य पढ़ना चाहिए जो भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली से प्रकाशित है।

प्रमाण के द्वारा परिगृहीत वस्तु के एकदेश (अंश, भाग, गुण, धर्म, पक्ष, आयाम) को जानना या कहना नय है। परमार्थ से नय ज्ञानात्मक ही हैं, वचनात्मक नहीं, परन्तु कारण में कार्य का उपचार करके नय को वचनात्मक भी कहा गया है। ध्यान रहे नय वस्तु के एक पक्ष को ग्रहण करता है, किन्तु उसके अपर पक्ष का अभाव कभी नहीं करता, मात्र उसे गौण करता है।

नय और नयाभास– नय और नयाभास में यही विशेष अन्तर है कि नय सम्यक् एकान्त हैं और नयाभास मिथ्या एकान्त। नय अपर पक्ष को मात्र गौण करता है, उसका अभाव नहीं, जबकि नयाभास अपर पक्ष का अभाव ही कर देता है।

वस्तु के अनन्त धर्मों में से कब किसे मुख्य किया जाए और कब किसे गौण किया जाए– यह ज्ञानी वक्ता पर अथवा उसके अभिप्राय पर निर्भर होता है। इसीलिए कहा गया है कि 'ज्ञातुरभिप्रायो नय' अथवा 'वक्तुरभिप्रायो नयः'।

नय के भेद– वस्तु अनन्तधर्मात्मक है, अतः वस्तुतः नय अनन्त हैं। ज्ञानी वक्ता और उनके वचन-विकल्प असंख्य हैं, अतः इस दृष्टि से नय असंख्य भी कहे गये हैं। तथा समझने-समझाने की सुविधा से नय के एक, दो, तीन, चार, सात, सैंतालीस आदि भेद भी शास्त्रों में गिनाये गये हैं। परन्तु संक्षेप में नय के इन दो भेदों को समझना अत्यन्त आवश्यक है– 1. निश्चय नय और व्यवहार नय, 2. द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय।

निश्चय नय और व्यवहार नय– जो वस्तु को अभेद व अनुपचार से ग्रहण करता है वह निश्चय नय है और जो भेद व उपचार से ग्रहण करता है वह व्यवहार नय है। जैसे– जीव को एक अखण्ड अजर-अमर, अमूर्तिक कहना निश्चय नय है और ज्ञान-दर्शन आदि गुणों का भेद करके बताना या जन्ममरण धर्मा और शरीरादि के संयोग से मूर्तिक आदि कहना व्यवहार नय है। इसी प्रकार अन्य भी अनेक उदाहरणों द्वारा इसे भलीभांति समझा जा सकता है। यथा घट को मिट्टी का कहना निश्चय नय है और घी का कहना व्यवहार नय है इत्यादि। जो वस्तु जैसी है उसे वैसी ही कहना निश्चय नय है और संयोगादि के कारण उसे अन्यथा कहना व्यवहार नय है।

द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय– पहले कहा जा चुका है कि जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक वस्तु सदैव सामान्यविशेषात्मक है। सामान्यविशेषात्मक को हम द्रव्यपर्यायात्मक भी कह सकते हैं, क्योंकि वस्तु के सामान्य अंश को द्रव्य और विशेष अंश को पर्याय भी कहते हैं। जो नय वस्तु के सामान्य अंश या द्रव्य अंश को ग्रहण करता है वह द्रव्यार्थिक नय है और जो वस्तु के विशेष अंश या पर्याय अंश को ग्रहण करता है वह पर्यायार्थिक नय है। जैसे वस्तु को नित्य और अभेद कहना द्रव्यार्थिक नय है और अनित्य और भेदरूप बताना पर्यायार्थिक नय है।

इस प्रकार प्रमाण, प्रमाणाभास, नय और नयाभास– इन चारों को भलीभांति समझना ही जैन न्याय का प्राथमिक परिचय है। जो यहाँ अति संक्षेप में लिखा है। कुछ और अधिक विस्तार से सरलतापूर्वक जानना हो तो मेरी कृति 'न्याय-मन्दिर' (प्रकाशक–जैन विद्या संस्थान, श्रीमहावीरजी, राजस्थान) पढ़नी चाहिए।

❖❖

जैन न्याय ग्रन्थों का सूचीकरण

—डॉ. वीरसागर जैन

यूँ तो 'जब तत्त्वार्थसूत्र' को न्यायग्रन्थ मान लिया जाता है तो उसकी सैकड़ों टीकाएँ भी न्यायग्रन्थ कहला सकती हैं, तथा दर्शन के जिन तार्किक ग्रन्थों में न्याय का प्रसंगानुकूल थोड़ा-बहुत वर्णन हुआ है उन्हें भी न्यायग्रन्थों की इस सूची में सम्मिलित किया जा सकता है, परन्तु यदि अभी इन सबको छोड़ दिया जाए और मात्र न्याय (प्रमाण-नय-विवेचन) के स्वतन्त्र ग्रन्थों की ही गणना की जाए तो भी आज वह लगभग 200 तक पहुँच जाती है– यह आश्चर्य का विषय है। बहुत-से लोग जैन-न्यायग्रन्थों के नाम पर परीक्षामुखसूत्र, न्यायदीपिका, प्रमाणमीमांसा आदि चार-छह ग्रन्थों को ही जानते हैं बस! इनके अतिरिक्त जो न्यायग्रन्थों का विशाल भण्डार है उसका उन्हें भान ही नहीं है। अतएव यहाँ जैन-न्याय-ग्रन्थों की यह सूची प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया जा रहा है। आशा है इससे बहुत लोगों का भ्रम दूर होगा और उनको बहुत लाभ भी होगा।

हमारी भावना यहाँ यह भी है कि देशभर में व्याप्त जैन दर्शन एवं न्याय के विद्यालयों के छात्र व अध्यापक भी यथायोग्य इन ग्रन्थों के अध्ययन-अध्यापन-सम्पादन-प्रकाशनादि में भी प्रवृत्त हों।

यह सूची अभी अपूर्ण है, विद्वज्जनों से अनुरोध है कि वे इसे पूर्ण करने में हमारा सहयोग करें।

(क) प्राचीन आचार्यों के मूल ग्रन्थ-

क्र.	ग्रन्थनाम	ग्रंथकार	शताब्दी	प्रकाशक या उपलब्धि-स्थान
1.	**तत्त्वार्थसूत्र**	उमास्वामी	पहली	शताधिक संस्थाओं से प्रकाशित
2.	**आप्तमीमांसा**	समन्तभद्र	दूसरी	वीरसेवामन्दिर, नई दिल्ली
3.	**युक्त्यनुशासन**	समन्तभद्र	दूसरी	वीरसेवामन्दिर, नई दिल्ली
4.	**जीवसिद्धि**	समन्तभद्र	दूसरी	अनुपलब्ध
5.	**स्वयम्भूस्तोत्र**	समन्तभद्र	दूसरी	अनेक संस्थाओं से प्रकाशित
6.	**सन्मतिसूत्र**	सिद्धसेन	तीसरी	भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली
7.	**सारसंग्रह**	पूज्यपाद	पाँचवीं	अनुपलब्ध, धवला में उद्धृत
8.	**जल्पनिर्णय**	श्रीदत्त	छठी	अनुपलब्ध, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में उद्धृत
9.	**त्रिलक्षणकदर्थन**	पात्रस्वामी	छठी	अनुपलब्ध, अकलंकानंतवीर्यादि द्वारा उद्धृत
10	**सुमतिसप्तक**	सुमति	छठी	अनुपलब्ध
11.	**न्यायविनिश्चय**	अकलंक	सातवीं	भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली
12.	**स्वरूपसम्बोधन**	अकलंक	सातवीं	रेडियंड पब्लिशर्स, कालकाजी, नई दिल्ली 2005
13.	**सिद्धिविनिश्चय**	अकलंक	सातवीं	भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली
14.	**प्रमाणसंग्रह**	अकलंक	सातवीं	सिन्धी ग्रन्थमाला, अहमदाबाद
15.	**लघीयस्त्रय**	अकलंक	सातवीं	गणेशवर्णी संस्थान, वाराणसी
16.	**न्यायचूलिका-**	अकलंक	सातवीं	जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश 2/635 में **बृहत्त्रयम्** उल्लेख
17.	**द्वादशार नयचक्र**	मल्लवादी क्षमाश्रमण	सातवीं	ओरियंटल इंस्टी., बड़ौदा 1952
18.	**अनेकान्तजय-पताका**	हरिभद्र	आठवीं	गायकवाड़ सीरीज, बड़ौदा
19.	**अनेकान्तवादप्रवेश**	हरिभद्र	आठवीं	गायकवाड़ सीरीज, बड़ौदा
20.	**शास्त्रवार्तासमुच्चय**	हरिभद्र	आठवीं	देवचन्द्र लालभाई, सूरत
21.	**षड्दर्शनसमुच्चय**	हरिभद्र	आठवीं	भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली
22.	**आप्तपरीक्षा**	विद्यानन्दि	आठवीं	वीरसेवामन्दिर, नई दिल्ली
23.	**प्रमाणपरीक्षा**	विद्यानन्दि	आठवीं	वीरसेवामन्दिर, नई दिल्ली
24.	**पत्रपरीक्षा**	विद्यानन्दि	आठवीं	सनातन जैन ग्रन्थमाला
25.	**सत्यशासनपरीक्षा**	विद्यानन्दि	आठवीं	भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली
26.	**श्रीपुरपार्श्वनाथ स्तोत्र**	विद्यानन्दि	आठवीं	वीरसेवामन्दिर, नई दिल्ली
27.	**न्यायावतार**	सिद्धसेन II	नौवीं	श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास

28.	**द्वात्रिंशतिकाएँ**	सिद्धसेन II	नौवीं	
29.	**स्याद्वादसिद्धि**	वादीभसिंह	नौवीं	माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, मुम्बई
30.	**नवपदार्थनिश्चय**	वादीभसिंह	नौवीं	मूडबिद्री ग्रन्थभण्डार
31.	**वादन्याय**	कुमारनन्दि	नौवीं	अनुपलब्ध, विद्यानन्दि द्वारा उद्धृत
32.	**बृहत्सर्वज्ञसिद्धि**	अनन्तकीर्ति	नौवीं	माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, मुम्बई
33.	**लघुसर्वज्ञसिद्धि**	अनन्तकीर्ति	नौवीं	माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, मुम्बई
34.	**स्वतःप्रामाण्यभंग**	अनन्तकीर्ति	नौवीं	अनुपलब्ध, अनन्तवीर्य 1, 2 में उद्धृत
35.	**नयचक्र**	देवसेन	नौवीं	माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, मुम्बई
36.	**आलापपद्धति**	देवसेन	नौवीं	अनेकान्तज्ञानमन्दिर, बीना
37.	**स्याद्वादोपनिषद्**	सोमदेव	नौवीं	अनुपलब्ध
38.	**परीक्षामुखसूत्रम्**	माणिक्यनन्दि	दसवीं	अनेक संस्थानों से प्रकाशित
39.	**प्रमाणनिर्णय**	वादिराज	दसवीं	अनेकान्तज्ञानमन्दिर, बीना
40.	**नयचक्र**	माइल्लधवल	बारहवीं	भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली
41.	**समयपरीक्षा**	नयसेन	बारहवीं	
42.	**प्रमाणमीमांसा**	हेमचन्द्रसूरि	बारहवीं	तारा बुक एजेन्सी, वाराणसी
43.	**षड्दर्शनेषु प्रमाणप्रमेयसमुच्चय**	आचार्य अनन्तवीर्य	12वीं	सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालयवाराणसी, 2000
44.	**अन्ययोग-व्यवच्छेदिका**	हेमचन्द्रसूरि	बारहवीं	तारा बुक एजेन्सी, वाराणसी
45.	**विश्वतत्त्वप्रकाश**	भावसेन-त्रैविद्य	बारहवीं	जीवराज ग्रंथमाला सोलापुर
46.	**प्रमा-प्रमेय**	भावसेन-त्रैविद्य	बारहवीं	
47.	**न्यायसूर्यावली**	भावसेन-त्रैविद्य	बारहवीं	स्ट्रासबर्ग (जर्मनी) के संग्रहालय में
48.	**कथा-विचार**	भावसेन-त्रैविद्य	बारहवीं	ती.भ. और उ.पा.प. में उल्लिखित
49.	**प्रमेयरत्नाकर**	आशाधर	तेरहवीं	अनुपलब्ध, आशाधर-प्रशस्ति में उल्लिखित
50.	**स्याद्वादरत्ना-वतारिका**	रत्नप्रभसूरि	तेरहवीं	यशोविजय ग्रन्थमाला, काशी
51.	**रत्नाकरावतारिका**	रत्नप्रभसूरि	तेरहवीं	दलसुख मालवाणिया, भा.सं. विद्यामंदिर, अहमदाबाद
52.	**न्यायदीपिका**	धर्मभूषणयति	14वीं	वीरसेवामन्दिर, नई दिल्ली
53.	**कारुण्यकलिका**	अज्ञात	अज्ञात	न्यायदीपिका में उल्लिखित
54.	**प्रमाणप्रमेयकलिका**	नरेन्द्रसेन	18वीं	भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली
55.	**सप्तभंगीतरंगिणी**	विमलदास	18वीं	श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास
56.	**प्रवचनपरीक्षा**	नेमिचन्द्र	18वीं	सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी
57.	**न्यायमणिदीपिका**	अजितसेन	18वीं	
58.	**न्यायकर्णिका**	विनयविजय	18वीं	जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश 2/635
59.	**जैनतर्कभाषा**	यशोविजय	18वीं	यशोविजय जैन ग्रन्थमाला, काशी
60.	**न्यायालोक**	यशोविजय	18वीं	यशोविजय जैन ग्रन्थमाला, काशी
61.	**ज्ञानबिन्दु**	यशोविजय	18वीं	यशोविजय जैन ग्रन्थमाला, काशी
62.	**अनेकान्तव्यवस्था**	यशोविजय	18वीं	यशोविजय जैन ग्रन्थमाला, काशी
63.	**न्यायखण्डनखाद्य**	यशोविजय	18वीं	यशोविजय जैन ग्रन्थमाला, काशी
64.	**अनेकान्तप्रवेश**	यशोविजय	18वीं	यशोविजय जैन ग्रन्थमाला, काशी
65.	**गुरुतत्त्वविनिश्चय**	यशोविजय	18वीं	यशोविजय जैन ग्रन्थमाला, काशी
66.	**नयप्रदीप**	यशोविजय	18वीं	यशोविजय जैन ग्रन्थमाला, काशी
67.	**नयोपदेश**	यशोविजय	18वीं	यशोविजय जैन ग्रन्थमाला, काशी
68.	**नयरहस्य**	यशोविजय	18वीं	यशोविजय जैन ग्रन्थमाला, काशी
69.	**अध्यात्मपरीक्षा**	यशोविजय	18वीं	यशोविजय जैन ग्रन्थमाला, काशी
70.	**न्यायभागमत-समुच्चय**	जयचन्द्र छाबड़ा	18वीं	जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश 2/635

71. **न्यायरत्न**	मणिकण्ठ		जैन सिद्धान्त भवन आरा में उपलब्ध पांडुलिपि
72. **न्यायमकरंद**	शुभप्रकाश		जैन सिद्धान्त भवन आरा में उपलब्ध पांडुलिपि

(ख) टीका या व्याख्या ग्रन्थ-

73. **गन्धहस्तिमहाभाष्य**	समन्तभद्र	दूसरी	अनुपलब्ध
74. **सर्वार्थसिद्धि**	पूज्यपाद	5वीं	भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली
75. **सन्मतितर्कटीका**	सुमति	छठी	अनुपलब्ध, वादिराज के पार्श्वनाथचरित में उल्लिखित
76. **अष्टशती**	अकलंक	7वीं	गांधीनाथा रंग जैन ग्रन्थमाला, सोलापुर
77. **तत्त्वार्थवार्तिक-सभाष्य**	अकलंक	7वीं	भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली
78. **तत्त्वार्थश्लोक-वार्तिक**	विद्यानन्दि	8वीं	कुंथुसागर ग्रन्थमाला, सोलापुर
79. **अष्टसहस्री (देवागमालंकार)**	विद्यानन्दि	8वीं	जैनविद्या संस्थान श्रीमहावीरजी
80. **युक्त्यनुशासना-लंकार**	विद्यानन्दि	8वीं	माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, मुंबई
81. **आप्तमीमांसावृत्ति**	वादीभसिंह	9वीं	अनेकान्तज्ञान मन्दिर, बीना
82. **सिद्धिविनिश्चयालंकार**	वृहदनन्तवीर्य	9वीं	भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली
83. **प्रमाणसंग्रहालंकार**	वृहदनन्तवीर्य	9वीं	अनुपलब्ध
84. **जीवसिद्धिटीका**	अनन्तकीर्ति	9वीं	अनुपलब्ध
85. **न्यायविनिश्चय-विवरण**	वादिराज	10वीं	भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली
86. **आप्तमीमांसावृत्ति**	वसुनन्दि	10वीं	सन्मतिग्रन्थमाला, काशी
87. **प्रमेयकमलमार्तण्ड**	प्रभाचन्द्र	11वीं	लाला मुसद्दीलालजैन चैरिटेबल ट्रस्ट, दरियागंज, दिल्ली,
88. **न्यायकुमुदचन्द्र**	प्रभाचन्द्र	11वीं	भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली
89. **न्यायावतारवृत्ति**	सिद्धर्षिगणी	11वीं	राजचन्द्र ग्रन्थमाला, अगास
90. **सन्मतितर्कटीका**	अभयदेव	12वीं	गुजरात पुरातत्त्व मंदिर, अहमदाबाद
91. **प्रमेयरत्नमाला**	अनन्तवीर्य	12वीं	चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी
92. **प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार**	वादिदेवसूरि	12वीं	श्री जैन गुरुकुल शिक्षण, संघ, ब्यावर, राज., 1942
93. **न्यायावतारवार्तिक सवृत्ति**		12वीं	सिन्धी जैनग्रन्थमाला, मुंबई
94. **अष्टसहस्रीविषम-पदतात्पर्यटीका**	लघु समन्तभद्र	13वीं	जैनविद्या संस्थान, श्रीमहावीरजी
95. **लघीयस्त्रय-तात्पर्यवृत्ति**	अभयचन्द्र	13वीं	माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, मुंबई
96. **प्रमेयरत्नसार**	शान्तिषेण उपलब्ध पांडुलि.	13वीं	जैनसिद्धान्तभवन आरा में
97. **स्याद्वादमंजरी**	मल्लिषेण	14वीं	रायचन्द्र ग्रन्थमाला, अगास
98. **प्रमेयकण्ठिका**	शान्तिवर्णी	14वीं	वीरसेवामन्दिर, नई दिल्ली
99. **प्रमेयरत्नालंकार**	चारुकीर्ति	18वीं	मैसूर विश्वविद्यालय
100. **अर्थप्रकाशिका**	चारुकीर्ति	18वीं	
101. **अष्टसहस्री-तात्पर्यविवरण**	यशोविजय	18वीं	यशोविजयजैन ग्रन्थमाला, काशी
102. **स्याद्वादकल्पलता** (शास्त्रवार्तासमुच्चयटी.)	यशोविजय	18वीं	यशोविजयजैन ग्रन्थमाला, काशी
103. **प्रमेयरत्नमाला-वचनिका**	जयचन्द्र छाबड़ा	18वीं	अनन्तकीर्ति ग्रन्थमाला, बम्बई
104. **आप्तमीमांसा-वचनिका**	जयचन्द्र छाबड़ा	18वीं	
105. **प्रमाणपरीक्षा-वचनिका**	जयचन्द्र छाबड़ा	18वीं	
106. **नयचक्रवचनिका**	पं. हेमचन्द्र	18वीं	जैनेन्द्र सिद्धान्तकोश 1/570
107. **न्यायदीपिका-भाषावचनिका**	सदासुख दास	19वीं	

(ग) आधुनिक आचार्यों या विद्वानों के ग्रन्थ-

108. **जैनन्याय का विकास**, मुनि नथमल, राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर, 1977
109. **जैनन्याय,** पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 1966
110. **जैनन्याय, भाग-2,** पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, गणेश वर्णी शोध संस्थान, वाराणसी, 1989
111. **प्रमाण-नय-निक्षेप प्रकाश,** पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, वीरसेवा मन्दिर ट्रस्ट, वाराणसी, वी. नि. 2497
112. **आप्तमीमांसा–टीका,** पं. जुगलकिशोर मुख्तार, वीरसेवामन्दिर, नई दिल्ली, 1967

113. **जैन तर्कशास्त्र में अनुमान विचार,** दरबारीलाल कोठिया, वीरसेवामंदिर, 1969
114. **जैनदर्शन और प्रमाणशास्त्र-परिशीलन**, दरबारीलाल कोठिया, वीरसेवामंदिर, 1980
115. **न्यायसार,** आर्यिका ज्ञानमती, त्रिलोकशोध संस्थान, हस्तिनापुर, सितम्बर 1974
116. **नयप्रज्ञापन,** कानजीस्वामी, दि.जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़, गुजरात
117. **भिक्षु न्यायकर्णिका,** आचार्य तुलसी
118. **आप्तमीमांसा-विवेचन,** पं. मूलचन्द्र शास्त्री
119. **युक्त्यनुशासन-विवेचन,** पं. मूलचन्द्र शास्त्री
120. **नयदर्पण,** जिनेन्द्र वर्णी, सौ. प्रेमकुमारी जैन स्मारक ग्रंथमाला, जवरीबाग, इन्दौर, म.प्र.
121. **जैन न्याय की भूमिका,** डॉ. दरबारीलाल कोठिया, जैनसंस्थान श्रीमहावीरजी, 1994
122. **न्यायरत्नसार,** आचार्य घासीलालजी महाराज
123. **जैन न्यायशास्त्र परिशीलन,** विजयमुनि शास्त्री, दिवाकर प्रकाशन, ए-7, महत्मागांधी मार्ग आगरा, 2, 1990
124. **आप्तमीमांसा–तत्त्वदीपिका,** प्रो. उदयचन्द्र जैन, गणेशवर्णी शोध संस्थान, वाराणसी, 1975
125. **स्वयम्भूस्तोत्र–तत्त्वप्रदीपिका,** प्रो. उदयचन्द्र जैन, गणेशवर्णी शोध संस्थान, वाराणसी, 1993
126. **प्रमेयकमलमार्तण्ड–परिशीलन,** प्रो. उदयचन्द्र जैन, प्राच्य श्रमण भारती, मुजफ्फरनगर, उ.प्र., 1998
127. **न्यायकुमुदचन्द्र–परिशीलन,** प्रो. उदयचन्द्र जैन, प्राच्य श्रमण भारती, मुजफ्फरनगर, उ.प्र.
128. **परमभावप्रकाशक नयचक्र,** डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल, पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर, 1989
129. **जैनशासन में निश्चय और व्यवहार,** डॉ. रत्नचन्द जैन, पार्श्वनाथ विद्याश्रम, वाराणसी
130. **स्याद्वाद,** पं. जवाहरलाल जैन सिद्धान्तशास्त्री, दिगम्बर जैन समाज, सहारनपुर, 1998
131. **प्रारंभिक नय प्रवेशिका,** ब्र. सन्दीप सरल, अनेकान्त ज्ञानमंदिर, बीना, सागर, म.प्र., 2004
132. **अनेकान्तवाद,** डॉ. सागरमल जैन, पार्श्वनाथ विद्याश्रम, वाराणसी
133. **स्याद्वाद और सप्तभंगीनय,** भिखारीराम यादव, पार्श्वनाथ विद्याश्रम, वाराणसी
134. **जैनदर्शन में अनेकान्तवाद : एक परिशीलन,** डॉ. अशोक जैन, ऋषभदेव ग्रंथमाला, सांगानेर, जयपुर
135. **अनेकान्त-स्याद्वाद-विमर्श,** डॉ. रमेशचन्द जैन, बिजनौर, ज्ञान सागर केन्द्र, ब्यावर
136. **स्याद्वादमंजरी का समीक्षात्मक अध्ययन,** किरणकला जैन, परिमल प्रकाशन, दिल्ली, 1992
137. **जैन तर्क भाषा की तात्पर्यसंग्रह वृत्ति**– पं. सुखलाल संघवी, सरस्वती पुस्तक भण्डार, अहमदाबाद, 1993
138. **जैन तर्क भाषा की रत्नप्रभा टीका**– आचार्य विजयोदय सूरि, जशवन्त लाल गिरधरलाल शाह प्रकाशन, अहमदाबाद, 1951
139. **जैन तर्क भाषा (अंग्रेजी)**– डॉ. दयानन्द भार्गव, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1973
140. **जैन तर्क भाषा** (संस्कृत-विवरण एवं गुजराती अनुवाद)– उदयवल्लभ विजय, दिव्यदर्शन ट्रस्ट, अहमदाबाद
141. **जैनदर्शन में नयवाद**; डॉ. सुखनन्दन जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2010
142. **दार्शनिक समन्वय की दृष्टि : नयवाद**, डॉ. अनेकान्त जैन, अहिंसा शोध संस्थान, वैशाली, बिहार
143. **आप्तमीमांसा-प्रवचन** (12 भागों में), मनोहरलाल वर्णी, सहजानन्द शास्त्रमाला, मेरठ, 1970
144. **आप्तपरीक्षा-प्रवचन**, सहजानन्द शास्त्रमाला, 185-ए, रणजीतपुरी, सदर, मेरठ
145. **परीक्षामुख-प्रवचन** (26 भागों में) 1968-1969, संपा.–पं. देवचंद शास्त्री, सहारनपुर
146. **अष्टसहस्री-प्रवचन**, सहजानन्द शास्त्रमाला, मेरठ
147. **प्रमेयकमलमार्तण्ड-प्रवचन**, सहजानन्द शास्त्रमाला, मेरठ
148. **सप्तभंगितरंगिणी-प्रवचन**, सहजानन्द शास्त्रमाला, मेरठ
149. **युक्त्यनुशासन-प्रवचन**, सहजानन्द शास्त्रमाला, मेरठ
150. **अध्यात्म न्याय प्रवेशिका**, मन्नूलाल जैन वकील, दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंडल, पंढरपुर, महाराष्ट्र
151. **बौद्ध प्रमाण मीमांसा की जैनदृष्टि से समीक्षा**, डॉ. धर्मचन्द जैन, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, 1995
152. जैनदर्शन में **प्रमाण-निरूपण,** डॉ. धर्मचन्द जैन
153. **अनुमान प्रमाण : जैन एवं बौद्ध न्याय की दृष्टि में,** डॉ. प्रद्युम्न शाह सिंह, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली 2006
154. **जैन न्याय प्रवेशिका,** ब्र. संदीप सरल, अनेकान्त ज्ञान मंदिर, बीना, 2009
155. **सरल नय प्रवेशिका,** ब्र. संदीप सरल, अनेकान्त ज्ञान मंदिर, बीना, 2009
156. **जैन न्याय को आचार्य अकलंक का योगदान,** संपादक–डॉ. कमलेश कुमार जैन, प्राच्य-श्रमण भारती, मुजफ्फरनगर, उ.प्र., 1999
157. **स्याद्वाद,** पं. चैनसुखदास न्यायतीर्थ, जैन विद्या संस्थान, श्रीमहावीरजी 2009
158. **जैनन्यायखण्डखाद्यम्,** उपाध्याय यशोविजय, पं. बद्रीनाथ शुक्ल, चौखंबा विद्या भवन, वाराणसी, 1966

159. **न्यायमंदिर,** डॉ. वीरसागर जैन, जैन विद्या संस्थान श्रीमहावीरजी, जयपुर, 2006
160. **भारतीयचिंतने स्याद्वादः,** डॉ. वीरसागर जैन, ला.ब.शा.रा. संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली, 2012
161. Jain Logic, Bhagchand Bhaskar, University of Madras, Chennai
162. Jain Theories of reality and Knowledge, Y.J. Padmrajaiya, Motilal Banarsidas, 1963
163. Jain and Hindu Logic, P.K. Jain Research Books, B-5/263, Yamuna Vihar, Delhi-53

(घ) अप्रकाशित शोधप्रबन्ध-

164. **न्यायदीपिका का समालोचनात्मक अध्ययन,** नीलिमा कुमारी, प्राकृत शोधसंस्थान, वैशाली, 1957
165. **जैनदर्शन का नयवाद : एक मीमांसा,** इन्द्रदेव पाठक, प्राकृत शोधसंस्थान, वैशाली, 1976
166. **प्रमेयकमलमार्तण्ड का समीक्षात्मक अध्ययन,** निर्मला जैन, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1981
167. **भारतीय दर्शन में सर्वज्ञवाद : जैनदर्शन के परिप्रेक्ष्य में,** प्रदीप कुमार जैन, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1981
168. **आप्तपरीक्षा का दार्शनिक विवेचन,** शोभालाल जैन, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर, 1991
169. **जैनन्यायसम्मत स्मृति प्रत्यभिज्ञान–तर्कप्रमाणों का अनुशीलन,** सुषमा जैन, डॉ. हरिसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर, 1992
170. **लघीयस्त्रय का दार्शनिक विवेचन,** हेमन्त कुमार जैन, काशी हिन्दूविश्वविद्यालय, वाराणसी 1994
171. **जैन तर्कभाषा का समीक्षात्मक अध्ययन,** मायाराम, कुरूक्षेत्र विश्वविद्यालय, 1998
172. **भारतीय दर्शनों का प्राणतत्त्व स्याद्वाद,** मुनि पदम महाराज, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर, 1999
173. **प्रमेयरत्नमाला का दार्शनिक अध्ययन,** अनिल कुमार वर्मा, लखनऊ विश्वविद्यालय, 2001
174. **नयचक्र का दार्शनिक अध्ययन,** जितेन्द्र बी. शाह, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
175. **सन्मतितर्क प्रकरण का समीक्षात्मक अध्ययन,** साध्वी मुदितयशा, जैन विश्वभारती, लाडनूं
176. **सिद्धसेन के सन्मतितर्क का समालोचनात्मक अध्ययन,** किरण श्रीवास्तव, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
177. **जैनदर्शन में स्याद्वाद,** कंचन लोढ़ा, जोधपुर विश्वविद्यालय 1979
178. **जैनन्याय तथा आधुनिक बहुपक्षीय तर्कशास्त्र,** आशाकुमारी जैन, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, 1979
179. **आचार्य प्रभाचन्द्र का जैन न्याय को योगदान,** योगेश कुमार जैन, विश्व भारती लाडनूं, 2009
180. **न्यायविनिश्चय का समीक्षात्मक अध्ययन,** अजेश जैन, रेवाड़ी
181. **जैन तर्क भाषा का बौद्ध व न्याय तर्कभाषा से तुलनात्मक अध्ययन,** चन्द्रमौलिश्वर पाण्डेय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, 2009
182. **जैन एवं बौद्ध न्याय में अनुमान का स्वरूप,** प्रद्युम्न शाह, जैन विश्व भारती, लाड़नूं, 1996
183. **अष्टसहस्री का समीक्षात्मक अध्ययन,** विभा मलैया, सागर विश्वविद्यालय, सागर
184. **Jain Nayaya and Epistcmology,** Kokila Shah, University of Mumbai
185. **Jainism and Navya Nyaya**/A.uno/ Kyoto University, Japan
186. English Translation of **Nayaya Dipika**, Itaru Wakiyu, University of Pune
187. **Syadvada**/Kusum Jain/University of Ottawa, Ottawa, Canada

❖❖

न्यायशास्त्र के अध्ययन की आवश्यकता

—प्रो. (डॉ.) वीरसागर जैन

जीव के दुःखों का मूल कारण एक ही है– अज्ञान, मिथ्याज्ञान; अतः दुःखनिवृत्ति का भी मूल कारण एक ही है– ज्ञान, सम्यग्ज्ञान या तत्त्वज्ञान। तथा यह सम्यक् तत्त्वज्ञान न्याय के द्वारा ही सम्भव है, अन्यथा नहीं; क्योंकि तत्त्व का स्वरूप अनन्तधर्मात्मक होनेसे जटिल है और विभिन्न वक्ता उसे अनेक तरह से कहते हैं। अतः न्याय का ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है। आवश्यक ही नहींअनिवार्य है।

वैसे तो हमारे देश में अत्यन्त प्राचीन काल से ही न्यायविद्या का बहुत अधिक महत्त्व माना जाता रहा है और जीवन के हर क्षेत्र में उसकी महती उपयोगिता स्वीकार की गई है, जैसा कि महाकवि कौटिल्य ने लिखा है–

''प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।
आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षिकी मता॥''[1]

अर्थ– आन्वीक्षिकी विद्या (न्यायविद्या) शाश्वत काल से ही सर्व विद्याओं का प्रदीप, सर्वकर्मों का उपाय और सर्वधर्मों का आश्रय मानी गई है।

परन्तु यहाँ हम उतने विस्तार में नहीं जाना चाहते हैं। बस, इतना ही जोर देकर निवेदन करना चाहते हैं कि हमें रुचि लेकर न्याय का ज्ञान अवश्य करना चाहिए, क्योंकि उसी के द्वारा तत्त्व का समीचीन ज्ञान होता है और फिर उस समीचीन तत्त्वज्ञान के द्वारा ही दुःखनिवृत्तिरूप मूल प्रयोजन सिद्ध होता है। अन्य कोई विधि नहीं है।

न्यायविद्या के लिए शास्त्रों में अनेक पर्यायवाची शब्द प्रचलित रहे हैं। यथा– परीक्षा, अन्वीक्षा, आन्वीक्षिकीयुक्ति, समीक्षा, तर्कविद्या, वादविद्या, हेतुविद्या, हेतुवाद, हेतुमार्ग, न्याय, नीति, औचित्य, विवेक, विचार, चिन्तन, परख इत्यादि। ये सभी तत्त्वान्वेषण में न्याय के विशेष महत्त्व को ही प्रकट करते हैं, अतः न्याय का ज्ञान अवश्य ही करना चाहिए।

किन्तु कुछ लोग मोक्षार्थी होकर भी, समीचीन तत्त्वजिज्ञासु होकर भी अनेक बहाने बनाकर न्याय के ज्ञान से बचने का प्रयत्न करते हैं, जो ठीक नहीं है। यहाँ उन्हीं के मन की शंकाओं का समाधान करने का प्रयत्न करते हैं। यथा–

शंका–1. कुछ लोग कहते हैं कि न्यायशास्त्र का ज्ञान तो शास्त्रार्थ या वाद-विवाद या येन-केन प्रकारेण स्वमतमण्डन और परमतखण्डन के लिए आवश्यक है, उसका आत्महित या तत्त्वज्ञान से कोई सम्बन्ध नहीं ।

समाधान– ऐसी धारणा सर्वथा मिथ्या है, क्योंकि न्यायशास्त्र का असली उद्देश्य समीचीन तत्त्वज्ञान के द्वारा आत्महित ही है, शास्त्रार्थ, वाद-विवाद या येन-केन प्रकारेण स्वमतमण्डन और परमत-खण्डन नहीं।

जो लोग न्यायशास्त्र का उद्देश्य शास्त्रार्थ या वाद-विवाद या स्वमतमण्डन और परमतखण्डन मात्र समझते हैं, वे वस्तुतः न्याय की परिभाषा ही नहीं जानते। न्यायशास्त्र के धुरन्धर विद्वान् आचार्य अकलंकदेव ने तो ऐसे लोगों को 'गुणद्वेषी' और 'न्यायशास्त्र के मलिनकर्ता' तक कहा है। यथा–

''बालानां हितकामिनामतिमहापापैः पुरोपार्जितै-
र्माहात्म्यात्तमसः स्वयं कलिबलात् प्रायो गुणद्वेषिभिः।
न्यायोऽयं मलिनीकृतः कथमपि प्रक्षाल्य नेनीयते,
सम्यग्ज्ञानजलैर्वचोभिरमलं तत्रानुकम्पापरैः॥''[2]

अर्थ– अहो, आत्महिताभिलाषी जीवों के पूर्वोपार्जित महापाप कर्म के उदय से, अविद्या-अन्धकार के माहात्म्य से और स्वयं कलियुग के प्रभाव से वर्तमान में गुणद्वेषी लागों ने न्याय को मलिन कर दिया है। तथापि धन्य हैं वे अनुकम्पा-परायण आचार्य जो आज भी उसे किसी प्रकार सम्यग्ज्ञानरूपी जल से प्रक्षालित करते हुए आगे लिए चले जा रहे हैं।

आचार्य अकलंक के उक्त कथन में उनके हृदय की अपार वेदना और साथ ही करुणा भी प्रकट हो रही है, जिस पर हम सबको गम्भीरतापूर्वक चिन्तन करना चाहिए।

वस्तुतः यह महान दुःख का विषय है कि जो न्याय तत्त्वज्ञान का आवश्यक उपाय है, अनिवार्य साधन है, उसे लोगों ने वाद-विवाद एवं जय-पराजय का हेतु बना दिया है और तन्निमित्त छल-निग्रहादि का भी उपदेश दे दिया है। कषाय मिटाने के साधन को कषाय बढ़ाने का साधन बना दिया है।

यह सब देखकर हमारा भी हृदय बहुत दुःखी होता है, पर किया क्या जा सकता है, सिवाय इसके कि आचार्य अकलंकदेव की भाँति हम भी अपनी क्षमतानुसार इसे सम्यग्ज्ञान-जल से प्रक्षालित करते हुए आगे ले चलें। कुछ पात्र जीवों का तो कल्याण होगा ही।

दरअसल वाद-विवाद और परीक्षा– ये दोनों पृथक्-पृथक् दो चीजें हैं और दोनों में महान् अन्तर है। जिसप्रकार स्वच्छन्दता और स्वतन्त्रता में बड़ा अन्तर है, ईर्ष्या और स्पर्द्धा में बड़ा अन्तर है, उसी प्रकार वाद-विवाद और परीक्षा में बड़ा भारी अन्तर है। वाद-

विवाद अनेक दोषों का दुर्गन्धित भण्डार है और परीक्षा अनेक गुणों का अनमोल खजाना। आचार्यों ने वाद-विवाद को विष कहा है तो परीक्षा को अमृत।

वाद-विवाद हमें मोह-राग-द्वेष में उलझाता है, जबकि न्याय हमें मोह राग-द्वेष से ऊपर उठाकर वस्तु के सत्य स्वरूप का दर्शन कराता है।

यह जीव अनादिकाल से मोह-राग-द्वेष के वशीभूत होकर वस्तु के सत्य स्वरूप को उसीप्रकार नहीं देख पाता, जिसप्रकार कोई उन्मत्त पुरुष, परन्तु यह न्यायविद्या का ही परम उपकार है कि वह हमें मोह-राग-द्वेष से युक्त होने पर भी उनसे ऊपर उठकर वस्तु के सत्य स्वरूप को देखने की कला सिखाती है।

वाद-विवाद करने वाले का लक्ष्य येन-केन प्रकारेण स्वमतमण्डन और परमतखण्डन ही होता है, पर न्यायप्रिय व्यक्ति का लक्ष्य असत्य का निराकरण करके सत्य का अनुसन्धान कर लेना होता है। सूत्ररूप में कह सकते हैं कि वाद-विवाद करने वाले का सिद्धान्त होता है– मेरा सो खरा, जबकि न्यायप्रेमी का सिद्धान्त होता है– खरा सो मेरा।

वाद-विवाद करने वाले की दृष्टि सदा जय-पराजय पर ही होती है; जय-पराजय पर भी नहीं, अपनी जय और दूसरे की पराजय पर ही होती है, जबकि न्यायप्रेमी व्यक्ति की दृष्टि सदा सत्यानुसन्धान में लगी रहती है, उसे जय-पराजय से प्रयोजन नहीं होता, सत्यप्राप्ति को ही वह अपनी सबसे बड़ी विजय मानता है।

वाद-विवाद कलहप्रिय लोगों को अच्छा लगता है, जबकि न्याय को शान्तिप्रिय और सत्यान्वेषी लोग पसन्द करते हैं। जिनको न्याय अप्रिय लगता हो, अरुचिकर लगता हो, वे अवश्य आत्मनिरीक्षण करें। 'क्षत्रचूड़ामणि' में कहा है कि न्याय उन्हें अच्छा नहीं लगता जिनका मन ईर्ष्यादूषित है–

'न ह्यत्र रोचते न्यायमीर्ष्यादूषितचेतसे।'[3]

वाद-विवाद जितना हेय है, परीक्षा उतनी ही उपादेय है, अतएव प्राचीन काल से ही प्रायः सभी ऋषि-मुनियों ने वाद-विवाद को अत्यन्त हेय और परीक्षा को अत्यन्त उपादेय कहा है। मात्र कुछ ही लोगों ने परवर्ती काल में अज्ञान या कषाय के वशीभूत होकर वाद-विवाद और परीक्षा में अन्तर न करके न्यायशास्त्र को मलिन कर दिया है, जिससे बचना अत्यन्त आवश्यक है।

वाद-विवाद का निषेध करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द लिखते हैं–

''णाणाजीवा णाणाकम्मं णाणाविहं हवे लद्धी।
तम्हा वयणविवादं सगपरसमएहिं वज्जिज्जो॥''[4]

अर्थ– नाना प्रकार के जीव हैं, नाना प्रकार के कर्म हैं, नाना प्रकार की लब्धियाँ हैं, अतः स्वसमय-परसमयों के साथ वचन-विवाद नहीं करना चाहिए।

इसी प्रकार आदि शंकराचार्य भी स्पष्ट लिखते हैं–

'बुधजनैर्वादः परित्यज्यताम्।'[5]

आचार्य अमितगति ने वाद-विवाद करने को कुतर्क करना कहा है और उसके अनेक दोष गिनाये हैं। यथा–

''बोधरोधः शमापायः श्रद्धाभंगोऽभिमानकृत्।
कुतर्को मानसो व्याधिर्ध्यानशत्रुरनेकधा॥
कुतर्कोऽभिनिवेशोऽतो न युक्तो मुक्तिकांक्षिणाम्।
आत्मतत्त्वे पुनर्युक्तः सिद्धिसौधप्रवेशके॥''[6]

अर्थ– कुतर्क ज्ञान को रोकने वाला, शान्ति का विनाशक, श्रद्धा को भंग करनेवाला और अभिमान को बढ़ानेवाला मानसिक रोग है, जो कि अनेक प्रकार से ध्यान का शत्रु सिद्ध होता है, अतः मोक्षाभिलाषियों को कुतर्क में अपना मन नहीं लगाना चाहिए।

इस प्रकार प्रायः सभी विद्वानों ने वाद-विवाद या कुतर्क को अत्यन्त हानिकारक एवं हेय कहा है, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि तर्क, न्याय या परीक्षा भी हेय है और हमें उससे भी दूर ही रहना चाहिए। हमारे सभी पूर्वाचार्यों ने जहाँ एक ओर कुतर्क या वाद-विवाद को अत्यन्त निन्दनीय और हेय कहा है, वहीं दूसरी ओर तर्क, न्याय या परीक्षा को अत्यन्त आदरणीय और उपादेय भी कहा है। जिन आचार्य अमितगति ने उपरि-उद्धृत श्लोक में कुतर्क के अनेक दोष गिना कर उससे बचने की प्रेरणा दी है, उन्होंने स्वयं ही एक 'धर्मपरीक्षा' नामक ग्रन्थ भी लिखा है और उसमें परीक्षा को पुनः-पुनः प्रशंसा करते हुए अत्यन्त उपादेय कहा है। यथा–

''न बुद्धिगर्वेण न पक्षपाततो मयान्यशास्त्रार्थविवेचनं कृतम्।
ममैव धर्म शिवसौख्यदायिके परीक्षितुं केवलमुत्थितः भ्रमः॥''[7]

अर्थ– मैंने यहाँ अन्य शास्त्रों के अर्थ का विवेचन (निराकरण) बुद्धि के अभिमानवश या किसी पक्षपातवश नहीं किया है, अपितु मेरा ही धर्म शिवसुखदायक है– इसकी परीक्षा करके लोगों का भ्रम दूर किया है।

अपने 'श्रावकाचार' में भी वे परीक्षा का महत्त्व बताते हुए लिखते हैं–

''लक्ष्मीं विधातुं सकलां समर्थं सुदुर्लभं विश्वजनीनमेनं।
परीक्ष्य गृह्णन्ति विचारदक्षाः सुवर्णवद्वंचनभीतचित्ताः॥''[8]

अर्थ– विचारवान पुरुष तो सर्वसमर्थ लक्ष्मी प्रदान कराने वाले धर्म को ठगाये जाने के भय से स्वर्ण की भाँति परीक्षा करके ही ग्रहण करते हैं।

इसी प्रकार अन्य भी अनेक आचार्यों ने परीक्षा की पुनः-पुनः प्रशंसा करते हुए उसे अत्यन्त उपादेय कहा है। आचार्य यतिवृषभ लिखते हैं कि–

''जो ण पमाणणएहिं णिक्खेवेण णिरिक्खदे अट्ठं।
तस्साजुत्तं जुत्तं जुत्तमजुत्तं च पडिहादि॥''[9]

अर्थ– जो जीव प्रमाण, नय, निक्षेपों के द्वारा अर्थ की परीक्षा नहीं करता है उसे अयुक्त भी युक्त और युक्त भी अयुक्त की तरह प्रतिभासित होता है।

इसी प्रकार का भाव आचार्य वीरसेन ने भी'धवला' में प्रकट किया है[10] आचार्य सोमदेवसूरि 'यशस्तिलकचम्पू' में लिखते हैं कि वस्तु-स्वरूप को समझने के लिए शपथ की नहीं, परीक्षा की आवश्यकता है–

''एकान्तः शपथश्चैव वृथा तत्त्वपरिग्रहे।
सन्तस्तत्त्वं न हीच्छन्ति परप्रत्ययमात्रतः॥
दाहच्छेदकषा शुद्धे हेम्नि का शपथक्रिया।
दाहच्छेदकषाऽशुद्धे हेम्नि का शपथक्रिया॥''[11]

अर्थ– पक्ष और शपथ– दोनों ही तत्त्वबोध के लिए व्यर्थ हैं, क्योंकि ज्ञानी पुरुष परप्रत्ययमात्र से तत्त्व का विश्वास नहीं करते। दहन, छेदन, कर्षण आदि से शुद्ध हुए स्वर्ण में शपथ क्या करेगी? तथा दहन, छेदन, कर्षण आदि से शुद्ध नहुए स्वर्ण में भी शपथ क्या करेगी?

आचार्य हरिभद्रसूरि ने भी अपने 'लोकतत्त्वनिर्णय' आदि ग्रन्थों में सुन्दर ढंग से परीक्षा का महत्त्व प्रतिपादित किया है।'लोकतत्त्व-निर्णय' में वे लिखते हैं–

''पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः॥''[12]

अर्थ– मुझे महावीर से कोई पक्षपात नहीं है और कपिलादि से कोई द्वेष नहीं है; परन्तु जिसके वचन युक्तिसंगत हों उसी का ग्रहण करना चाहिए।

आचार्य हेमचन्द्रसूरि ने भी परीक्षा को महत्त्व देते हुए लिखा है–

''न श्रद्धयैव त्वयि पक्षपातो न द्वेषमात्रादरुचिः परेषु।
यथावदाप्तत्वपरीक्षया तु त्वामेव वीरप्रभुमाश्रिताः स्मः॥
यत्र तत्र समये यथा तथा योऽसि सोऽस्यभिधया यया तया।
वीतदोषकलुषः स चेद्भवानेक एव भगवन्नमोऽस्तु ते॥''[13]

अर्थ– हे वीर प्रभु! मुझे केवल श्रद्धामात्र से आपके प्रति पक्षपात नहीं है और द्वेषमात्र से दूसरे देवों में अरुचि नहीं है; परन्तु मैंने आप्तत्व की यथावत् परीक्षा करके ही आपका ही आश्रय ग्रहण किया है। किसी भी मत या सम्प्रदाय में हो, कैसा भी हो, किसी भी नाम से जाना जाता हो, परन्तु यदि वह सर्व दोष-कालुष्य से रहित हो गया हो तो हे भगवन्! वह तुम ही हो और तुम्हें ही मेरा नमस्कार हो।

न केवल जैनाचार्यों ने, इतर विद्वानों ने भी परीक्षा के महत्त्व को स्वीकार किया है। **महाकवि कालिदास** का निम्नलिखित श्लोक अत्यन्त प्रसिद्ध है जिसमें परीक्षाप्रधानी व्यक्ति को ही ज्ञानी (सन्त) और परीक्षा-रहित अन्धविश्वासी को मूढ़ कहा है–

''पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः॥''[14]

अर्थ– सभी पुराना अच्छा और सभी नया बुरा नहीं हो सकता। समझदार व्यक्ति दोनों की परीक्षा करके उनमें से जो समीचीन हो उसे ग्रहण करते हैं। मूढ़ व्यक्ति ही दूसरे के कथन मात्र से विश्वास करता है। एक स्मृति-ग्रन्थ में भी युक्तियुक्त वचनों को ही ग्रहण करने की प्रेरणा दी गई है–

'युक्तियुक्तं वचो ग्राह्यम्।'

महात्मा गौतम बुद्ध का भी एक कथन प्रसिद्ध है कि–

''तापाच्छेदान्निषात् सुवर्णमिव पण्डिता:।
परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्यं मद्वचो न तु गौरवात्।।''

अर्थ– हे विद्वान भिक्षुओं! जिस प्रकार स्वर्ण को भलीभाँति तपाकर, काटकर और कसौटी पर कसकर ही ग्रहण किया जाता है; उसी प्रकार तुम भी मेरे वचनों को परीक्षा करके ही ग्रहण करना, न कि गौरव से।

इसप्रकार ये सभी कथन परीक्षा के महत्त्व को प्रकट करते हैं, अतः हमें परीक्षा या न्याय का ज्ञान एवं आश्रय अवश्य करना चाहिए। किसी भी बहाने उससे बचने का आत्मघाती प्रयत्न करना ठीक नहीं। वाद-विवाद ही हेय है, परीक्षा नहीं। परीक्षा तो अत्यन्त उपादेय है।

शंका–2. कुछ लोग कहते हैं कि सत्य-असत्य की परीक्षा करना तो बहुत कठिन कार्य है, लगभग असम्भव-सा ही है। लोक में असत्य की अधिकता भी इतनी है कि उसमें से सत्य को पहचान लेना और पा लेना तो सोचना भी कठिन लगता है।

समाधान– ऐसे लोग उत्साहहीन हैं। परीक्षा करना कठिन अवश्य है, पर असम्भव कतई नहीं। यदि व्यक्ति स्वार्थ, आग्रह या पक्षपात से ऊपर उठकर एकदम निष्पक्ष होकर सच्ची विधि से परीक्षा करे तो सच्ची परीक्षा सहज हो सकती है, कठिन नहीं है। प्रमादी और आग्रही व्यक्ति ही परीक्षा नहीं कर पाता। आचार्यकल्प पं. टोडरमलजी लिखते हैं– ''सच्ची-झूठी दोनों वस्तुओं को कसने से और प्रमाद छोड़कर परीक्षा करने से तो सच्ची ही परीक्षा होती है। जहाँ पक्षपात के कारण भले प्रकार परीक्षा न करे वहीं अन्यथा परीक्षा होती है।''[15]

अतः परीक्षा के प्रति उत्साहहीन रहना ठीक नहीं। लोक में असत्य की अधिकता है– यह भी चिन्ता का विषय नहीं। किसी भी प्रश्न के असत्य उत्तर अधिक ही होते हैं, सत्य उत्तर तो एक ही होता है। अध्ययनशील विद्यार्थी उनसे घबराते नहीं हैं। 'नकली माल बाजार में बहुत है अतः असली भी मत खरीदो'– यह कोई समाधान नहीं है। इसी प्रकार हीरे की परख कठिन ही होती है, परन्तु हीरे का व्यापारी 'कौन परीक्षा के चक्कर में पड़े'– ऐसा कभी नहीं सोचता, उद्यम करके परीक्षा करता ही है और उससे उसे असली-नकली की पहचान भी होती ही है। जरा कल्पना कीजिए— यदि हीरे का व्यापारी कठिन होने के कारण हीरों की परीक्षा करना छोड़ दे या उसमें शिथिलता करे तो क्या होगा?

अतः उत्साहपूर्वक परीक्षा में प्रवृत्त होना चाहिए। उसी से समीचीन तत्त्वज्ञान का महान लाभ होगा।

शंका–3. कुछ लोग कहते हैं कि दुःखनिवृत्ति के लिए तो तत्त्वज्ञान आवश्यक है, न्यायज्ञान नहीं, अतः हम तो केवल तत्त्वज्ञान ही करेंगे, न्यायज्ञान नहीं। न्यायज्ञान तो अनावश्यक है।

समाधान– ऐसे लोग भी अज्ञानी हैं। यद्यपि यह सत्य है कि दुःखनिवृत्ति के लिए तत्त्वज्ञान आवश्यक है, परन्तु जैसा कि हम पहले स्पष्ट कर चुके हैं कि वह तत्त्वज्ञान न्याय के द्वारा ही समीचीनतः हो सकता है, उसके बिना कथमपि नहीं।

जिस प्रकार व्यापार तो वस्तुओं के क्रय-विक्रय से ही होता है, परन्तु वस्तुओं का क्रय-विक्रय तराजू आदि पैमानों के बिना ठीक-ठीक नहीं हो सकता, अतः व्यापारी को तराजू आदि पैमानों का भी ज्ञान और आश्रय अवश्य करना चाहिए, उसी प्रकार दुःखनिवृत्ति तो तत्त्वज्ञान से ही होती है, परन्तु वह तत्त्वज्ञान न्याय के बिना समीचीन-तया नहीं हो सकता, अतः दुःखनिवृत्ति के अभिलाषी को न्याय का भी ज्ञान और आश्रय अवश्य करना चाहिए।

शंका–4. न्यायशास्त्र के अध्ययन से बचने के लिए कुछ लोग कहते हैं कि जीवन छोटा है, समय कम है और हम अल्पबुद्धि हैं, अतः हम न्याय पढ़ने के चक्कर में नहीं उलझना चाहते। शास्त्रों में भी कहा है–

''अंतो णत्थि सुईणं कालो थोओ वयं च दुम्मेहा।
तण्णवरि सिक्खियव्वं जं जरमरणं खयं कुणदि।।''[16]

अर्थ– शास्त्रों का अन्त नहीं है, समय कम है और हम भी दुर्बुद्धि हैंअतः केवल वही सीखना चाहिए जो जन्म-जरा-मरण का क्षय करे।

समाधान– ऐसे लोग भी बड़े भ्रम में हैं। क्योंकि न्याय का ज्ञान तो इसीलिए आवश्यक बताया गया है कि कम समय में हम अल्पबुद्धि वस्तुस्वरूप का समीचीन ज्ञान कर सकें। वस्तुस्वरूप अत्यन्त जटिल है, अनन्तधर्मात्मक है, उसे यूँ ही नहीं समझा जा सकता। न्याय एक ऐसी सुलभ विधि है कि हम अल्पबुद्धि भी उसके द्वारा अनन्तधर्मात्मक वस्तु के स्वरूप को अल्प समय में समीचीनतया समझ सकते हैं।

न्याय के अवलम्बन से वस्तुस्वरूप को समझना सरल होता है, कठिन नहीं। जिसप्रकार लोक में मीटर, तराजू आदि पैमाने सुलभ रीति से पदार्थों को ठीक-ठीक नापने-मापने का काम करने में हमारी बड़ी सहायता करते हैं, उसी प्रकार न्याय भी सुलभ रीति से वस्तुस्वरूप को ठीक-ठीक समझने में हमारी बड़ी सहायता करता है। अतः इसका ज्ञान अवश्य ही करना चाहिए। न्याय उलझाता नहीं है, सुलझाता है। उलझाता तो वाद-विवाद है, अज्ञान है।

तथा शास्त्रों में जो ऐसा कहा है कि शास्त्रों का अन्त नहीं है, समय कम है और हम अल्पबुद्धि हैं, अतः हमें वही सीखना चाहिए जिससे जन्म-मरण का क्षय हो, उसका अभिप्राय यह है कि लोक में अनेक विद्याएँ हैं, सबके अगणित शास्त्र हैं, हम उन

सबको सीखने का प्रयत्न कहाँ तक करेंगे? तब तक हमारा यह अल्प जीवन तो यूँ ही चला जायेगा और हम जन्म-मरण-रोग-विनाशक समीचीन तत्त्वज्ञान से वंचित रह जायेंगे, अतः दुनिया की अनेक अप्रयोजनभूत विद्याओं को सीखने में दुर्लभ समय और अल्पबुद्धि को मत लगाओ और तत्त्वज्ञान हेतु प्रयोजनभूत विषय पर ही ध्यान दो। कहा भी है–

''गणिकचिकित्सकतार्किकपौराणिकवास्तुशब्दशास्त्रमर्मज्ञाः।
संगीतादिषु निपुणाः सुलभाः न हि तत्त्ववेत्तारः॥''[17]

अर्थ– गणित, चिकित्सा, तर्क (कुतर्क, वाद-विवाद), पुराण, वास्तु, शब्द और संगीत के शास्त्रों में निपुण लोग तो आसानी से मिल जाते हैं, परन्तु तत्त्व के ज्ञाता पुरुष मिलना बहुत कठिन है।

और भी कहा है कि–

''बहत्तरकलाकुसला पण्डिय पुरिसा अपण्डिया चेव।
सव्वकलाण वि पवरं जे धम्मकलं ण जाणंति॥''[18]

अर्थ– जो पुरुष बहत्तर कलाओं में कुशल हैं, सभी कलाओं के प्रवर पण्डित हैं, परन्तु धर्मकला को नहीं जानते हैं, वे वास्तव में अपण्डित ही हैं।

अतः शास्त्रों का उपर्युक्त कथन अप्रयोजनभूत लौकिक विद्याओं के सम्बन्ध में ही समझना चाहिए। न्याय जगत् की उन अप्रयोजनभूत विद्याओं में से नहीं है अपितु मुक्तिमार्ग हेतु एक अत्यन्त प्रयोजनभूत आध्यात्मिक विद्या है। आचार्य सोमदेव ने भी इसे अध्यात्म विषय की प्रयोजनभूत विद्या कहा है।[19] न्याय के बिना वस्तुस्वरूप का समीचीन ज्ञान कथमपि नहीं हो सकता है, अतः समीचीन तत्त्वजिज्ञासु को न्याय का ज्ञान अवश्य करना चाहिए।

शंका–5. कुछ लोग कहते हैं कि न्याय तो परवर्ती काल में आचार्य अकलंक आदि ने विकसित किया है। अधिकसे अधिक कहें तो आचार्य सिद्धसेन या आचार्य उमास्वामी को न्याय का जनक कह सकते हैं। उससे पहले न्याय कहाँ था, जबकि लोगतो तत्त्वज्ञान करते ही थे। अतः तत्त्वज्ञान हेतु न्याय का ज्ञान करना आवश्यक नहीं है।

समाधान– ऐसे लोग भी बड़े भ्रम में हैं। आचार्य अकलंक, आचार्य सिद्धसेन या आचार्य उमास्वामी से पहले भी न्याय अवश्य विद्यमान था, भले ही उस समय के न्याय-ग्रन्थ हमें आज उपलब्ध न होते हों। ग्रन्थ उपलब्ध न होने के तो अनेक कारण हो सकते हैं। हो सकता है नष्ट हो गये हों अथवा यह तो आपको पता ही होगा कि पहले सारी श्रुत परम्परा मौखिक रूप में ही चल रही थी और शास्त्र-लेखन का कार्य बहुत बाद में प्रारम्भ हुआ है।

तथा यदि उक्त आचार्यों से पहले न्याय नहीं होता तो वेदों में नयों का उल्लेख कैसे मिलता है? यथा–

''आ नो गोत्रा दर्दृहि गो पते गाः समस्मभ्यं सु नयो यंतु वाजाः।
दिवक्षा असि वृषभ सत्यशुष्मोऽस्मभ्यं सु मघवन्बोधि गोदाः॥''[20]

अर्थ– हे पृथ्वी के पालक देव (वृषभदेव)! हमें सुनय-सहित वाणियों को प्रदान कर आदरयुक्त बना, जिससे हम अपनी वृत्तियों और इन्द्रियों को संयत रख सकें। हे वृषभ! तू सूर्य के समान सब दिशाओं में प्रकाशमान है और तू सत्य के कारण बलवान है। हे ऐश्वर्यमान मघवन्! हमें सुबोधि प्रदान कर।

आचार्य जिनसेन ने भी भगवान ऋषभदेव को न्यायशास्त्र का प्रणेता कहा है– **'प्रणेता न्यायशास्त्रकृत'**[21]

अतः वास्तविक स्थिति तो यही है कि न्यायविद्या अनादिनिधन है और इसी के द्वारा जीव समीचीन तत्त्वज्ञान करते आये हैं। अन्य कोई उपाय नहीं है। आचार्य सिद्धसेन स्पष्ट लिखते हैं–

''प्रमाणादिव्यवस्थेयमनादिनिधनात्मिका।
सर्वसंव्यवहर्तृणां प्रसिद्धापि प्रकीर्तिता॥''[22]

अर्थ– यह प्रमाण आदि की व्यवस्था अनादिनिधन है और इसका व्यवहार करनेवाले सभी लोगों में अत्यन्त प्रसिद्ध है, तथापि यहाँ उसे हमने पुनः कहा है।

शंका–6. कुछ लोग कहते हैं कि न्यायग्रन्थ तो कठिन बहुत हैं, अतः हम उन्हें समझ नहीं सकते।

समाधान– ऐसे लोग भी उत्साहहीन हैं। यद्यपि यह सच है कि न्यायग्रन्थ गूढ़-गम्भीर होते हैं, पर इसका अर्थ यह नहीं कि वे बहुत कठिन होते हैं और हम उन्हें समझ नहीं सकते। यदि थोड़ी रुचि लेकर एकाग्रता के साथ पहले कुछ प्राथमिक न्याय ग्रन्थों को पढ़ लिया जाय तो प्रायः सभी न्यायग्रन्थों को समझना बहुत सरल हो जाता है। जिन्हें न्याय की प्रारम्भिक जानकारी न हो और जो रुचिपूर्वक अध्ययन नहीं करना चाहते हों उन्हें ही न्यायग्रन्थ कठिन लगते हैं। अन्यथा उनमें कठिन लगने जैसा कुछ भी नहीं है।

न्यायग्रन्थ गूढ़-गम्भीर इसलिए होते हैं कि उनमें कोई दुनिया के राग-रंग की बातें या कोई किस्से, कहानी नहीं होती, अपितु अत्यन्त जटिल वस्तुस्वरूप का अत्यन्त सावधानीपूर्वक विश्लेषण और परीक्षण होता है। उसमें जरा-सी भी शिथिलता से अर्थ का

अनर्थ हो जाने की संभावना रहती है। लोक में कोयला, कण, कंचन और कोहिनूर को तौलने में ही उत्तरोत्तर अधिक सावधानी की आवश्यकता होती है, तब यहाँ तो अनन्तधर्मात्मक वस्तु के स्वरूप को समीचीनतया समझने का महान् कार्य सिद्ध करना है, अतः न्याय-ग्रन्थों का गूढ़- गम्भीर होना स्वाभाविक है; परन्तु इस कारण से वे बहुत कठिन हैं और हम उन्हें नहीं समझ सकते– ऐसा भ्रम नहीं पालना चाहिए और उनके अभ्यास में प्रवृत्त होना चाहिए।

तथा यहाँ तो हम न्याय के सामान्य ज्ञान की बात कर रहे हैं, जो बिल्कुल कठिन नहीं है और वस्तुस्वरूप के परिज्ञान हेतु अनिवार्यतः उपयोगी भी है, अतः उसके अध्ययन में प्रमाद करना उचित नहीं । जो लोग अपनी किसी प्रकार की अक्षमतावश न्याय के अनेक गूढ़ ग्रन्थों का अध्ययन नहीं कर सकते हैं, उन्हें भी न्याय का सामान्य ज्ञान तो अवश्य करना ही करना चाहिए। उसके बिना सिद्धि नहीं है।

शंका–7. यहाँ आपने विविध प्रकार से न्यायशास्त्र के अभ्यास की प्रेरणा दी, परन्तु क्या किसी भी अपेक्षा से शास्त्रों में न्याय के अवलम्बन का निषेध नहीं किया गया है?

समाधान– किया गया है। तत्त्व की अनुभूति के समय न्याय के अवलम्बन का निषेध किया गया है। स्पष्ट कहा है कि–

''तच्चाणेसणकाले समयं बुज्झेहि जुत्तिमग्गेण।
णो आराहणसमये पच्चक्खो अणुहवो जम्हा।।''

अर्थ– समय (आत्मा/सिद्धान्त/मत) को तत्त्वान्वेषण के समय युक्तिमार्ग (न्याय) से समझो, किन्तु उसकी आराधना (अनुभूति) के समय न्याय का अवलम्बन मत लो, क्योंकि अनुभूति तो प्रत्यक्ष (निर्विकल्प) होती है।

यहाँ तत्त्व की अनुभूति के समय न्याय के अवलम्बन का निषेध किया गया है, क्योंकि अनुभूति तो निर्विकल्प होती है, जबकि न्याय विकल्परूप है।

किन्तु इस बहाने से भी न्यायशास्त्र के अभ्यास से बचने की चेष्टा करना बुद्धिमानी नहीं है। यहाँ तत्त्व की अनुभूति के समय न्यायमार्ग के अवलम्बन का निषेध किया गया है– यह एकदम सच है, परन्तु यहीं प्रथम पंक्ति में जोर देकर यह भी तो कहा गया है कि तत्त्वान्वेषण के समय न्याय-मार्ग का अवलम्बन लो।

तत्त्व की अनुभूति से पूर्व तत्त्व का अन्वेषण अनिवार्य है। यदि तत्त्व का अन्वेषण ही नहीं हुआ तो अनुभूति किसकी करोगे? अतः सर्वप्रथम न्याय का ज्ञान करके तत्त्व का अन्वेषण अवश्य करना चाहिए।

सन्दर्भ-सूची

1. कौटिल्य, अर्थशास्त्र, विद्योद्देश प्रकरण
2. आचार्य अकलंक, न्यायविनिश्चय, 1/2
3. आचार्य वादीभसिंह, क्षत्रचूडामणि, 4/25
4. आचार्य कुन्दकुन्द, नियमसार, 156
5. आदि शंकराचार्य, साधन-पंचक, 3
6. आचार्य अमितगति, योगसारप्राभृत, 7/52-53
7. आचार्य अमितगति, धर्मपरीक्षा, 10
8. आचार्य अमितगति, श्रावकाचार 1/29
9. आचार्य यतिवृषभ, तिलोयपण्णत्ति, 1/182
10. ''प्रमाणनयनिक्षेपैर्योऽर्थो नाभिसमीक्ष्यते।
    युक्तं चायुक्तवद्भाति तस्यायुक्तं च युक्तवत्।।' –(आचार्य वीरसेन, धवला 1/1/1/10)
11. सोमदेवसूरि, यशस्तिलकचम्पू, 6/73-74
12. हरिभद्रसूरि, लोकतत्त्वनिर्णय, 1/38
13. हेमचन्द्रसूरि, अयोगव्यवच्छेदिका, 29,31
14. महाकवि कालिदास, मालविकाग्निमित्र, 1/2
15. पं. टोडरमल, मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 216
16. मुनि रामसिंह, पाहुडदोहा, 99
17. भट्टारक ज्ञानभूषण, तत्त्वज्ञानतरंगिणी, 11/3
18. आचार्यश्री विद्यानन्द जी मुनिराज की डायरी में से
19. आन्वीक्षिक्यध्यात्मविषये। –सोमदेवसूरि, नीतिवाक्यामृत 5/63
20. ऋग्वेद 3/2/30/21
21. आचार्य जिनसेन, आदिपुराण, 25/115
22. आचार्य सिद्धसेन, न्यायावतार, 32

❖❖

जैन-न्याय-ग्रन्थों में उपलब्ध सूक्तियाँ

—श्रीमती नीतू जैन

सूक्तियाँ प्रायः साहित्य-ग्रन्थों में ही ढूँढी जाती हैं, परन्तु यहाँ जैन दर्शन के न्याय-ग्रन्थों में से भी कतिपय सूक्तियों के संग्रह का अभिनव प्रयोग किया जा रहा है। आशा है कि यह प्रयोग विद्वज्जनों को आकर्षित करेगा। साथ ही सामान्यजनों को भी इससे कुछ लाभ होगा। यहाँ उन्हीं के हितार्थ इन सूक्तियों का सहज-सरल हिन्दी अनुवाद भी प्रस्तुत किया जा रहा है।

1. **सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्।** –(न्यायदीपिका)
   सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण है।
2. **हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि ज्ञानं.....।** –(परीक्षामुख)
   हित की प्राप्ति और अहित के परिहार में ज्ञान ही समर्थ है।
3. **ज्ञानमेव फलं ज्ञाने.....।** –(आत्मानुशासन)
   ज्ञान ही ज्ञान का फल है।
4. **नैकं स्वस्मात् प्रजायते।**
   एक भी कार्य अपने आप नहीं होता।
5. **सहकारिसहस्रसमवधानेऽपि विषयान्तरे प्रवृत्तिरयोगात्।** –(न्यायदीपिका)
   हजारों सहकारी कारणों के मिलने पर भी इन्द्रियाँ अविषय में प्रवृत्ति नहीं कर सकती।
6. **सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषयः।** –(परीक्षामुखसूत्रम्)
   प्रमाण का विषय सामान्यविशेषात्मक वस्तु है।
7. **प्रमाणादर्थसंसिद्धिस्तदाभासात्विपर्ययः।** –(परीक्षामुखसूत्रम्)
   प्रमाण से अर्थ (पदार्थ/प्रयोजन) की सम्यक् सिद्धि होती है और प्रमाणाभास से इसका विपर्यय होता है।
8. **श्रेयोमार्गस्य संसिद्धिः प्रसादात् परमेष्ठिनः।** –(आप्तपरीक्षा)
   पंचपरमेष्ठी के प्रसाद से श्रेयोमार्ग की सम्यक् सिद्धि होती है।
9. **साधकतमं करणम्।**
   जो साधकतम हो उसे करण कहते हैं।
10. **उद्देशानुसारेण लक्षणकथनम्।** –(न्यायदीपिका)
    उद्देश के अनुसार ही लक्षण का कथन होता है।
11. **सर्वं वाक्यं सावधारणम्।**
    सभी वाक्य सावधारण (अवधारणा सहित) होते हैं।
12. **प्रमाकरणं प्रमाणम्।**
    प्रमा (सम्यक् ज्ञान) के करण (वास्तविक साधन) को प्रमाण कहते हैं।
13. **नयप्रमाणात्मको न्यायः।** –(प्रमेयरत्नमाला)
    न्याय नय प्रमाणात्मक होता है।
14. **प्रमाणनयैरधिगमः।** –(तत्त्वार्थसूत्र)
    प्रमाण एवं नयों से वस्तुस्वरूप का अधिगम होता है।
15. **ज्ञातुरभिप्रायो नयः।**
    ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहते हैं।

16. **सुणयपमाणा जुत्ती।** –(नयचक्र, 261)
सम्यक् नय एवं प्रमाण के प्रयोग का नाम युक्ति है।

17. **सावेक्खा सुणया निरवेक्खा ते वि दुण्णया होंति।** –(कार्तिकेयानुप्रेक्षा 266)
जो सापेक्ष हैं वे सुनय हैं और जो निरपेक्ष हैं वे दुर्नय है।

18. **साधनात् साध्यविज्ञानमनुमानम्।** –(परीक्षामुखसूत्र)
साधन से साध्य का ज्ञान करना अनुमान है।

19. **दृष्टान्तवचनमुदाहरणम्।** –(न्यायदीपिका, 3/34)
दृष्टान्त को कहना ही उदाहरण है।

20. **आप्तवचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः।** –(परीक्षामुख, 3/95)
आप्त के वचनादि जिसमें कारण हैं उस अर्थज्ञान को आगम कहते हैं।

21. **प्रत्यक्षानुमानागमैर्यथावस्थितवस्तुव्यवस्थापनहेतुर्विचारः।** –(नीतिवाक्यामृत, 15/2)
प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम के द्वारा यथावस्थित वस्तु को ठीक से समझा जाए उसे विचार कहते हैं।

22. **न ह्यत्र रोचते न्यायमीर्ष्यादूषितचेतसे।** –(क्षत्रचूडामणि, 4/25)
ईर्ष्या से दूषित चित्त वालों को न्याय अच्छा नहीं लगता।

23. **यो यत्राविसंवादकः स तत्राप्तः।** –(अष्टशती, 78)
जो जिस विषय में अविसंवादक है वही उसका आप्त है।

24. **यो यत्रावञ्चकः स तत्राप्तः।** –(प्रमेयरत्नमाला, 3/95)
जो जिस विषय में अवंचक है वही उसका आप्त है।

25. **अज्ञाननिर्वृत्तिर्हानोपादानोपेक्षाश्च फलम्।** –(परीक्षामुखसूत्रम्, 5/1)
अज्ञान की निवृत्ति प्रमाण का साक्षात् फल है। उसका परंपरा फल हान, उपादान, उपेक्षा है।

26. **जे णयदिट्ठीविहीणा ताण ण वत्थुसहावउवलद्धि।** –(नयचक्र, 181)
जो नयदृष्टि से विहीन हैं उन्हें वस्तु स्वभाव की उपलब्धि नहीं हो सकती।

27. **जावदिया वयणवहा तावदिया चेव होंति णयवादा।** –(धवला 1/1/1, 67)
नय उतने ही होते हैं जितने कि वचनमार्ग होते हैं।

28. **निरपेक्षा नयाः मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत्।** –(आप्तमीमांसा, 108)
निरपेक्ष नय मिथ्या होते हैं और सापेक्ष नय सम्यक्।

29. **इष्टबाधितमासिद्धं साध्यम्।** –(परीक्षामुख, 3/20)
जो इष्ट, अबाधित और असिद्ध हो, वही साध्य है।

30. **युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः।** –(हरिभद्रसूरि, लोकतत्त्वनिर्णय, 1/38)
जिसके वचन युक्तिसंगत हों उसी को ग्रहण (स्वीकार) करना चाहिए।

❖❖